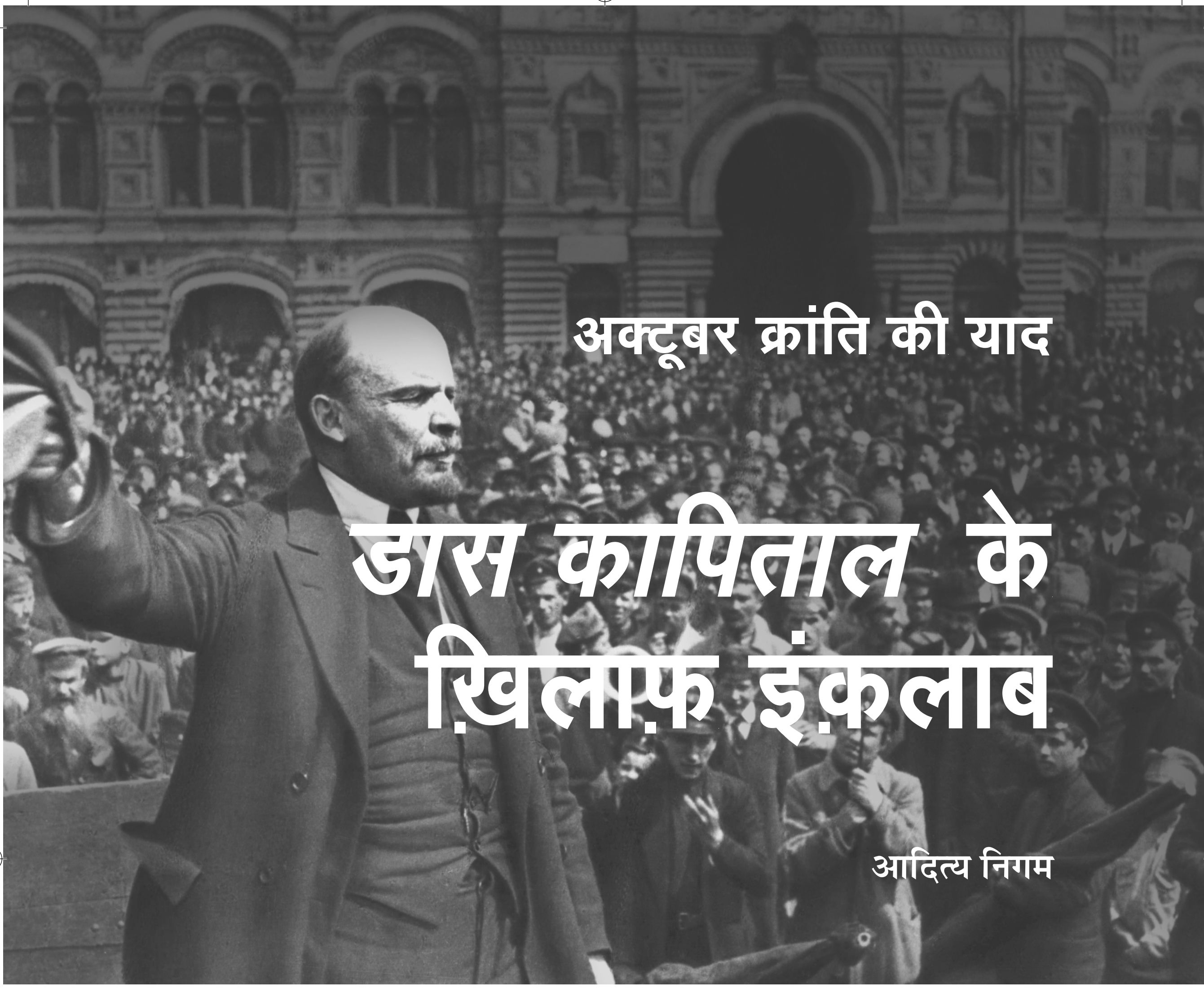
01_aditya:Layout 1 2/9/2018 3:34 PM Page 1



अक्टूबर क्रांति की याद

डास कापिताल के ख़िलाफ़ इंक़लाब

आदित्य निगम

जिस वाक़ये को दुनिया 'अक्टूबर क्रांति' या अक्सर सिर्फ़ 'रूसी क्रांति' के नाम से जानती है वह आज से तक़रीबन सौ साल पहले सात-आठ नवम्बर को घटित हुई थी। मगर फिर उसे अक्टूबर क्रांति क्यों कहा जाता है? इस सवाल के साथ जुड़े हैं कई ऐसे क़िस्सों के तार जो आधुनिकता और वक़्त के नये तसव्वुर के बारे में हमें काफ़ी कुछ बताते हैं।

दरअसल रूसी इंक़लाब उस ज़माने के जूलियन कैलेण्डर के मुताबिक़ 25-26 अक्टूबर को घटित हुआ था— जो जूलियस सीज़र के ज़माने से रूस और पश्चिमी दुनिया के बड़े हिस्सों में चलन में था (इसी वजह से उसका नाम 'जूलियन' पड़ा)। जनवरी, 1918 में नयी सोवियत सरकार ने क़ानून बनाकर जूलियन कैलेण्डर से मौजूदा ग्रिगोरियन कैलेण्डर में तब्दीली को ज़रूरी कर दिया। इतिहासकार मार्क स्टाइनबर्ग द्वारा उद्धृत एक सरकारी क़ानून के अनुसार इस तब्दीली की वजह थी सरकार का मानना कि अब रूस को भी 'वक़्त को शुमार करने के तरीक़ों में बाक़ी सभ्य देशों के साथ हो लेना चाहिए।' लिहाज़ा इंक़लाब की पहली सालगिरह सारे सोवियत संघ में 7 नवम्बर, 1918 को मनाई गयी।

यहाँ यह तब्दीली अपने आप में उतनी दिलचस्प नहीं है जितना कि उसके लिए दी गयी वजह : बाक़ी सभ्य देशों के साथ खड़े होने की ख़्वाहिश या ज़रूरत, जिसके मायने बीसवीं सदी की शुरुआती सालों में एक और एक ही हो सकते थे— आधुनिक पश्चिम (युरोप) जो एक लम्बे

अरसे से दुनिया के लिए वांछनीयता के पैमाने तय कर रहा था। 'वक़्त के शुमार' के तरीक़ों को भी युरोप के अक़्स में ढालना ज़रूरी था वरना इस बात की पूरी गुंजाइश थी कि रूस को कुछ कमतर आधुनिक समझा जाता। 'जगह' के हिसाब से रूस युरोप और एशिया दोनों के हिस्से ही खुद के भीतर समेटे हुए था जो काल या वक़्त के नये तसव्वुर के मुताबिक़ अब क्रमशः 'विकसित' और 'पिछड़े' क़रार दिये जा चुके थे। आधुनिक बन कर 'सभ्य व सुसंस्कृत' देशों में अपना शुमार करवाने की ललक क्रांति के पूरे इतिहास में शुरू से आख़िर तक देखी जा सकती है, और जो एक मायने में स्तालिनवादी राज्य के अस्तित्व में आने पर परवान चढ़ती है। यह ललक जहाँ एक तरफ़ किसानों और देहाती ज़िंदगी के प्रति गहरे अविश्वास में झलकती है, वहीं पश्चिमी युरोप के बराबर पहुँचने के उसके जुनून में भी दीख पड़ती है। स्तालिन का दावा भी था कि वे रूस के लिए चंद दशकों में वह हासिल करना चाहते हैं, जो युरोप ने कुछ सदियों में किया था। इस तरह वक़्त को एकबारगी सिकोड़ कर गोया वे पूरे समाज को एक झकझोर देने वाले तजुर्बे से गुज़ार लाना चाहते थे। इस तसव्वुर को धरती पर उतारने के लिए हमारे वर्तमान के साथ-साथ मौजूद 'अतीत' को नेस्तनाबूद करना ज़रूरी था।

इस समकालीन 'अतीत' से, जिसे अक्सर 'अवशेष' कह दिया जाता है, आम तौर पर मार्क्सवादियों का सामना— कम से कम सैद्धांतिक सामना— कभी ठीक ढंग से नहीं हो पाया। कई लोगों को इस बात की बेहद तकलीफ़ रही है कि अवशेष कही जाने वाली इन जीवन-शैलियों के साथ पूँजीवादी उद्योगीकरण के दौर में भी और फिर स्तालिनवादी ज़बरन 'सामूहिकीकरण' के दौर में भी ज़बरदस्त हिंसा हुई। इसके बावजूद उन्होंने कभी भी इन 'अवशेषों' के 'सैद्धांतिक दर्जे' पर बात करना मुनासिब नहीं समझा। लुई अल्थुसे पश्चिमी मार्क्सवादी चिंतकों में अकेले हैं जिन्होंने 'सैद्धांतिक दर्जे' का यह सवाल सीधे-सीधे उठाया— लेनिन और माओ के विचारों से उनकी लम्बी कशमकश के चलते शायद यह ज़रूरी भी हो गया था। उनका सवाल था :

> 'अवशेष' आख़िर है क्या? ... क्या वह मूलतः सामाजिक है या 'मनोवैज्ञानिक'? क्या उसे उन चंद आर्थिक संरचनाओं में समेट कर रखा जा सकता है जिन्हें इंक़लाब अपने शुरुआती क़ानूनों के ज़रिये ख़त्म नहीं कर पाया : मिसाल के तौर पर छोटे पैमाने का उत्पादन (रूस में मुख्यतः किसान उत्पादन) जो लेनिन के दिलोदिमाग़ पर छाया रहा? या कि यह उन संरचनाओं की ओर भी इशारा करता है, राजनीतिक और विचारतंत्र संबंधी ढाँचे, मसलन रिवाज, आदतें, परम्पराएँ— जैसे अपना ख़ास चरित्र लिए हुए राष्ट्रीय परम्पराएँ?

इन 'अवशेषों' की चर्चा करते हुए अल्थुसे इस सम्भावना की तरफ़ इशारा करते हैं कि 'क्रांति के ज़रिये पैदा हुआ नया समाज भी इन्हें ज़िंदगी बख़्श सकता है, यानी नये ढंग से पुराने तत्त्वों को नयी ज़िंदगी दे सकता है।' इसकी एक सूरत वह भी हो सकती है जिसके तहत साधारण लोग क्रांतिकारी निज़ाम द्वारा उठाए गये क़दमों के ख़िलाफ़ खड़े हो जाते हैं (या सकते हैं)— अपनी आदतों या परम्पराओं के चलते— जैसा कि नीचे दी गयी कुछ मिसालों से साफ़ होता है।

मगर अल्थुसे का यह कथन भी शायद समस्या के एक पहलू को ही दर्शाता है। अवशेष दरअसल अवशेष नहीं हैं बल्कि नये समाज द्वारा पैदा स्थितियों की बिना पर खड़े हैं— ऐसा दावा करना यक़ीनन हमारे सामने नये रास्ते तो खोलता है, पर सबसे बड़ा सवाल फिर भी अछूता रह जाता है। यह सवाल उस इतिहास-दर्शन का है जो यह सम्भव बनता है कि हम अपनी समसामयिक जीवन-शैलियों को 'अतीत' और 'पिछड़े' के रूप में देखें। कहीं न कहीं अल्थुसे के सवाल उठाने के ढंग में यह निहित है कि अगर इन जीवन शैलियों को क्रांति के बाद नयी ख़ुराक नहीं मिली होती तो उनकी हमारे वर्त्तमान में मौजूदगी अतीत के अवशेष के सिवा कुछ और नहीं हो सकती थी।

दिसम्बर, 1917 में लिखते हुए इतालवी मार्क्सवादी नेता अंतोनियो ग्राम्शी ने रूसी क्रांति का स्वागत यह कह कर किया था कि वह '*डास क़ापिताल* के ख़िलाफ़ इंक़लाब है' (*डास क़ापिताल* :

01_aditya:Layout 1 2/9/2018 3:34 PM Page 3



ग्राम्शी ने रूसी क्रांति का स्वागत यह कह कर किया था कि वह **'*डास कापिताल* के ख़िलाफ़ इंक़लाब है' (*डास कापिताल* : मार्क्स के ग्रंथ पूँजी के मूल जर्मन संस्करण का शीर्षक)**। उन्होंने लिखा था कि 'रूस में मार्क्स की पूँजी सरमायेदारों की किताब ज़्यादा थी, बनिस्बत सर्वहारा के। वह इस बात की जीती-जागती अभिव्यक्ति थी कि कैसे घटनाओं को एक तयशुदा रास्ता अख़्तियार करना चाहिए : **कैसे रूस में एक सरमायेदार तबक़े का पनपना और सरमायेदारी युग की शुरुआत लाज़िमी थी और पश्चिमी तर्ज़ की सभ्यता का खड़ा होना ज़रूरी था, इससे पहले कि सर्वहारा अपनी क्रांति के बारे में सोच भी सके।'**

मार्क्स के ग्रंथ पूँजी के मूल जर्मन संस्करण का शीर्षक)। उन्होंने लिखा था कि 'रूस में मार्क्स की *पूँजी* सरमायेदारों की किताब ज़्यादा थी, बनिस्बत सर्वहारा के। वह इस बात की जीती-जागती अभिव्यक्ति थी कि कैसे घटनाओं को एक तयशुदा रास्ता अख़्तियार करना चाहिए : कैसे रूस में एक सरमायेदार तबक़े का पनपना और सरमायेदारी युग की शुरुआत लाज़िमी थ और पश्चिमी तर्ज़ की सभ्यता का खड़ा होना ज़रूरी था, इससे पहले कि सर्वहारा अपनी क्रांति के बारे में सोच भी सके।'

ग्राम्शी दरअसल उस ज़माने में लिख रहे थे जब मार्क्स के रूसी 'किसान कम्यूनों' और भारत जैसे पूरब के समाजों के साथ ज़बरदस्त बौद्धिक मुठभेड़ का क़िस्सा दूर-दूर तक किसी को मालूम नहीं था। वह क़िस्सा कई दशकों बाद जापानी अध्येता हारुकी वाडा ने साठ के दशक में खोद कर निकाला और अस्सी के दशक में ही वह अंग्रेज़ी बोलने वाली दुनिया के सामने आ पाया था। तियोदोर शैनिन की किताब *द लेट मार्क्स एंड द रशियन रोड* के ज़रिये इस क़िस्से की तफ़सील आख़िर अंग्रेज़ीदाँ दुनिया के सामने आयी और दुनिया भर में जानी गयी। वाडा हमारे सामने वह अजीब कहानी ढूँढ़ कर लाए थे जिससे पता चलता था कि किस तरह मार्क्स के ही अनुयायियों ने किसान कम्यून के मज़मून पर वेरा ज़ासुलिच के जवाब में लिखे ख़त के चार मसविदों को बड़ी सफ़ाई से दबा दिया था। वेरा ज़ासुलिच रूस की एक भूतपूर्व नारोदनिक— जिन्हें अक्सर पॉपुलिस्ट भी कहा जाता है— थीं और मार्क्सवादी बनने के बाद वे भी मार्क्स द्वारा पेश की गयी पूँजीवाद की कहानी पूरी तरह हज़म कर चुकी थीं। अन्य मार्क्सवादियों की तरह वे भी यक़ीन करने लगी थीं कि रूस में भी एक सरमायेदार वर्ग और पश्चिमी तर्ज़ के पूँजीवाद का विकास अनिवार्य था— इससे पहले कि किसी क़िस्म की सर्वहारा क्रांति मुमकिन हो पाए। मगर नारोदनिकों का तर्क था कि रूस में यह ज़रूरी नहीं है क्योंकि सामूहिक सम्पत्ति पर आधारित पारम्परिक किसान कम्यून यहाँ भविष्य के समाजवाद का आधार बन

01_aditya:Layout 1 2/9/2018 3:34 PM Page 4

सकता था। ज़ासुलिच का मार्क्स से सवाल इस मतभेद को लेकर था और उनके ख़त के जवाब में मार्क्स ने चार मसविदे तैयार किये मगर अंत तक भेजा एक भी नहीं। इन्हें पढ़ कर साफ़ हो जाता है कि मार्क्स अपनी पूँजी के इतिहास-दर्शन को लेकर नये सिरे से सोच रहे थे।

दिलचस्प है कि 1882 में शाया कम्युनिस्ट घोषणापत्र के रूसी संस्करण के प्राक्कथन में मार्क्स व एंगेल्स ने लिखा था कि यह ऐन मुमकिन है कि 'रूस में ज़मीन का मौजूदा सामूहिक मालिकाना कम्युनिस्ट विकास का शुरुआती नुक़्ता बने।'

जहाँ ग्राम्शी ने रूसी क्रांति का यह कह कर स्वागत किया था कि वह *डास क़ापिताल* के ख़िलाफ़ क्रांति है, क्योंकि उसने उस किताब में खींची गयी इतिहास की रूपरेखा को नकारा था, वहीं शायद वे यह समझने में चूक गये थे कि कुल मिला कर पूँजीवादी विकास की अपरिहार्यता को लेकर बोल्शेविकों की समझ आमतौर पर मार्क्सवादियों की समझ से बहुत अलग नहीं थी।

हक़ीक़त यह है कि बोल्शेविक तसव्वुर शुरू से आख़िर तक— अपने सबसे विकृत स्तालिनवादी स्वरूप समेत— पूँजीवाद और भीमकाय उद्योगीकरण से मंत्रमुग्ध तसव्वुर था। यह भीमकाय उद्योगीकरण हर जगह लाज़िमी तौर पर कृषि व दस्तकार समुदायों की सामूहिक बेदख़ली के आधार पर खड़ा हुआ था। मगर यहाँ ख़ास बात यह थी कि जो प्रक्रिया इंग्लैंड जैसी जगह में कुछ सदियों तक फैली रही, उसे सोवियत संघ का स्तालिनवादी निज़ाम कुछ दशकों में अंजाम देने का इरादा रखता था। हालाँकि लेनिन और उनके अनुयायियों के बारे में जाना जाता है कि 'मजदूर-किसान एकता' में उनकी अगाध आस्था थी, लेकिन ऐसा लगता है जैसे उन्हें किसानों की ज़रूरत बोल्शेविकों के सत्ता पर क़ाबिज़ होने तक ही थी।

किसानों के ख़िलाफ़ जंग तो क्रांति के फ़ौरन बाद ही शुरू हो गयी थी। अपने महत्त्वपूर्ण अध्ययन *पेजेंट रिबेल्स अंडर स्टालिन* में लिन्न विओला क्रांति की एक दबा दी गयी कहानी को सामने लाती हैं जिसमें किसानों के प्रति बोल्शेविकों का रवैया साफ़ हो जाता है। इस अध्ययन से यह भी साफ़ होता है कि किसानों को फ़क़त एक आर्थिक पद के रूप में देखते हुए उन्होंने किसानों को लेकर जो भी कार्रवाइयाँ कीं उनमें वे शुरू से ग़लतियाँ करते गये। इधर गृहयुद्ध अपनी तेज़ी पर था और उधर कम्युनिस्टों ने गाँव के ग़रीबों की कमेटियाँ बना दी थीं जिनका काम अमीर किसानों से ज़बरन फ़सल उगाहना था— जिसकी ज़रूरत, बक़ौल उनके, शहरों का पेट भरने के लिए थी। मगर ग़रीब किसान भी ख़ुद को किसान मानते थे और अपना सारा अनाज इन कमेटियों के हवाले करने को तैयार नहीं थे। मई, 1918 में ही लेनिन ने यह ऐलान कर दिया था कि 'अनाज के वे मालिक जिनके पास सरप्लस अनाज है' मगर जो उसे सरकार को देने से इंकार करते हैं 'उन्हें जन-शत्रु घोषित कर दिया जाएगा' और उनके ख़िलाफ़ एक बेरहम जंग की शुरुआत होगी।

इसमें कोई शक़ नहीं है कि गृहयुद्ध की परिस्थितियों ने किसानों पर एक 'वॉर कम्युनिज़्म' थोप दिया था, मगर इस विचार की जड़ें बोल्शेविकों के फ़लसफ़े के अंदर बहुत गहरी पैठी हुई थीं : एक वर्ग के रूप में किसान, जिनका ज़मीन और फ़सल के साथ एक स्वाभाविक जुड़ाव था, को ख़त्म कर के उन्हें सम्पत्तिहीन मज़दूरों में तब्दील करना ज़रूरी था। बहरहाल, मार्च, 1921 तक कम्युनिस्टों को पीछे हटना पड़ा। एक नयी आर्थिक नीति की शुरुआत हुई जिसने ज़बरन अनाज वसूली की जगह पहले 'वस्तु के रूप में कर' और बाद में 'पैसे में कर' का सिलसिला चालू किया। एक मायने में कम्युनिस्टों के इस पीछे हटने के केंद्र में 'किसान प्रश्न' ही था।

मगर यह भी याद रखना ज़रूरी है कि यह पीछे हटना महज़ एक 'कार्यनीतिक' क़दम था और बहुत जल्द ही बड़े पैमाने पर भीमकाय उद्योगीकरण की शुरुआत होनेवाली थी। और, ऐसा कर पाना एक ही सूरत में मुमकिन था— व्यापार शर्तों को उद्योग के पक्ष में और कृषि के ख़िलाफ़ मोड़ना जिससे औद्योगिक उत्पाद के दाम ज़्यादा हो जाएँ और कृषि उत्पाद के कम। इस से फिर एक बार वे

01_aditya:Layout 1 2/9/2018 3:34 PM Page 5



उस ज़माने के 'वाम विपक्ष' के एक महत्त्वपूर्ण नेता एव्जेनी प्रेओब्रझेन्स्की ने अपने **'समाजवादी आदिम संचय' का कुख्यात सिद्धांत पेश किया जिसके तहत उद्योगीकरण के लिए संचय की ख़ातिर किसानों को निचोड़ने की तजवीज़ रखी गयी थी।** तब और बाद में, 1930 के दशक के शुरुआती सालों में चली ज़बरन सामूहिकीकरण की मुहिम के दौरान, विओला का अध्ययन हमें बताता है, किसान लाखों की तादाद में बेदख़ल और स्थानांतरित किये गये— और **किसानों पर सितम हर बार 'क्रांतिकारी अनिवार्यता' के नाम पर ही ढाए गये।**

हालत पैदा हो गये जहाँ किसान अपनी जीवन सुरक्षा के लिए अपने अनाज से अलग होने से इंकार करने लगे। दिलचस्प बात यह है कि उस ज़माने के 'वाम विपक्ष' के एक महत्त्वपूर्ण नेता एव्जेनी प्रेओब्रझेन्स्की ने अपने 'समाजवादी आदिम संचय' का कुख्यात सिद्धांत पेश किया जिसके तहत उद्योगीकरण के लिए संचय की ख़ातिर किसानों को निचोड़ने की तजवीज़ रखी गयी थी। तब और बाद में, 1930 के दशक के शुरुआती सालों में चली ज़बरन सामूहिकीकरण की मुहिम के दौरान, विओला का अध्ययन हमें बताता है, किसान लाखों की तादाद में बेदख़ल और स्थानांतरित किये गये— और किसानों पर सितम हर बार 'क्रांतिकारी अनिवार्यता' के नाम पर ही ढाए गये।

मगर यह भी दिल्चस्प है कि इन दहाइयों के पूरे समय के दौरान किसानों की नज़र में बोल्शेविक राज्य का वजूद में आना 'ज़मीन पर एंटीक्राइस्ट के शासन' का पर्याय माना जाता रहा। एक मुख्य सवाल जो यहाँ उभर कर आता है जिसे क्रांतियों के इतिहास अमूमन नज़रअंदाज़ कर देते हैं, वह उस दूरी का है जो वर्गों के एक ख़ालिस आर्थिक दृष्टिकोण और वर्गों की 'स्व-चेतना' के बीच का होता है। कोई भी 'वर्ग' अपने आप को किस तरह देखता है यह एक महत्त्वपूर्ण सवाल होता है और बावजूद इसके कि किसान ख़ुद को किसान मानते थे, 'सामूहिकीकरण की अफ़वाहों के इर्द-गिर्द 'क़यामत' (एपोकलिप्स) के दु:स्वप्न चक्कर काटा करते थे। एंटीक्राइस्ट और एपोकलिप्स के चार घुड़सवारों के चिह्न अफ़वाहों में पारम्परिक जीवन-शैलियों के अंत की अलामतें बन कर सामने आते थे।'

एक मायने में देखा जाए तो अफ़वाहों के ईंधन से आग बन कर फैलने वाले 'बर्बादी के पूर्वाभ्यास' नये नहीं थे। अन्य जगहों में भी तेज़ और समझ न आने वाले बदलावों के बीच फँसे किसान-समाजों में भी ऐसी घटनाएँ देखने में आती हैं। ख़ुद रूसी समाज में भी बड़े पैमाने पर कुछ मिलती-जुलती घटनाएँ क्रांति के वक़्त भी दर्ज की गयी हैं। ऐसी परिघटनाएँ लोकमानस से जुड़े कई सवाल खड़े

01_aditya:Layout 1 2/9/2018 3:34 PM Page 6

करती हैं। यहूदियों और जर्मनों को 'दुश्मन' के रूप में दर्शाने वाले क़िस्सों और अफ़वाहों का उस प्रक्रिया से एक गहरा रिश्ता था जिसे ऑर्लैंडो फ़िज़े और बोरिस कोलोनित्सकी 'राजतंत्र का 'विधर्मीकरण' (डी-सैक्रेलिज़ेशन)' कहते हैं। इनकी भूमिका फ़रवरी क्रांति के बाद बनी अस्थायी सरकार के करिश्माई नेता केरेंसकी की वैधता ख़त्म करने में भी अच्छी ख़ासी थी।

ऐसा माना जाने लगा कि सटोरियों, सट्टेबाजों, जर्मनों, यहूदियों और भ्रष्ट अधिकारियों की मिलीभगत वाली 'तामसिक ताक़तें' आम लोगों की भूख का फ़ायदा उठाकर मुनाफ़ा कमाने का षड्यंत्र रच रही हैं। फ़िज़े और कोलोनित्सकी का मानना है कि ऐसी अनुभूति ने जल्द ही रोटी के लिए लगी क़तारों को खाद्य फ़सादों और राजतंत्र के ख़िलाफ़ प्रदर्शनों में बदल दिया। हक़ीक़त तो यह है कि दरअसल यहूदी-विरोधी संवेदनाएँ कथित 'क्रांतिकारी' और 'बोल्शेविककृत' जनता में भरपूर मात्रा में मौजूद थीं। यह बात अक्सर क्रांति के क़सीदे लिखने वाले नज़रअंदाज़ कर दिया करते हैं। न तो फ़रवरी क्रांति न ही अक्टूबर क्रांति को उस मायने में एक ख़ालिस वर्गीय परिघटना के रूप में समझा जा सकता है। इस अर्थ में कहीं भी कोई ख़ालिस क्रांतिकारी चेतना कहीं भी देखने को नहीं मिलती है— हर जगह वह यहूदी-विरोध जैसे तत्त्वों के साथ एक ही सामाजिक तबक़े (या व्यक्ति तक) में 'सह-वास' करती दिखाई देती है।

केरेंसकी ने कहीं अपनी याद्दाश्त से यह दर्ज किया है कि 25 अक्टूबर को जब वह विंटर पैलेस से भाग रहे थे तो उन्होंने दीवारों पर लिखा देखा 'यहूदी केरेंसकी मुर्दाबाद, ट्रॉट्स्की ज़िंदाबाद'। फ़िज़े और कोलोनित्सकी बताते हैं कि दीवाल पर लिखे ये नारे दो कारणों से विडम्बनापूर्ण थे। पहला यह कि केरेंसकी यहूदी नहीं था और न ही अस्थायी सरकार में कोई यहूदी थे— बेशक उसे कई बार यहूदी सरकार कहा जाता था क्योंकि उसने यहूदियों को समान नागरिक और धार्मिक अधिकार दिये थे। दूसरा यह कि ट्रॉट्स्की (जिनका असली नाम ब्रोंस्टीन था) शायद रूस के सबसे मशहूर यहूदी थे!

फ़िज़े और कोलोनित्सकी आगे और बताते हैं कि किस तरह 'यहूदी', 'जर्मन' और 'बूर्झोई' (अर्थात् बूर्ज़्वा) जैसे पदों का आपस में घालमेल हो गया था और सड़क की ज़ुबान में ये कुछ हद तक समानार्थी भी हो गये थे। आख़िर वे इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि 'केरेंसकी रूपकीय 'यहूदी' बन गये थे— उन तमाम डरों और पूर्वाग्रहों का चिह्न माने जाने लगे थे जिन्होंने बोल्शेविकों को एक लड़ाकू जन समर्थन हासिल कराया था।'

दुर्भाग्यवश बीसवीं सदी की इस युगांतरकारी घटना की सौवीं सालगिरह के मौक़े पर उसका जश्न मनाते हुए लिखे जा रहे लेखन में दो तरह की दिक़्क़तें देखने को मिलती हैं जो आपस में जुड़ी भी हैं। एक तो यह कि वे उस 'अतीत' से जूझने की कोई कोशिश ही नहीं करते जिसे समाजवादी क्रांति नेस्तनाबूद करना चाहती थी। आख़िरकार, यह 'अतीत' कोई अतीत नहीं बल्कि किसान जीवन का वर्त्तमान था। बावजूद इसके कि शहरी रूस में पूँजीवादी रिश्तों का दबदबा था, कुल मिला कर रूसी समाज में कई काल, कई ज़माने एक साथ मौजूद थे। दूसरे, इस लेखन में क्रांति के उस ख़ुफ़िया इतिहास से बच कर निकलने की कोशिश दिखाई देती है जो इतिहास दरअसल हमें वर्गों और उनकी संस्कृतियों व परम्पराओं के पेचीदा रिश्तों के बारे में बहुत कुछ बता सकता है; लोकमानस के विभिन्न रूपों और आयामों के बारे में जानकारी दे सकता है— जो कभी भी साफ़ सुथरी सिद्धांत-सम्मत शक्ल में हमारे सामने नहीं आता। क्रांतियाँ और सामाजिक परिवर्तन के कई उद्यम अक्सर यहीं पर मात खा जाते हैं क्योंकि वे इन पेचीदा मसलों को नज़रअंदाज़ कर जाते हैं।